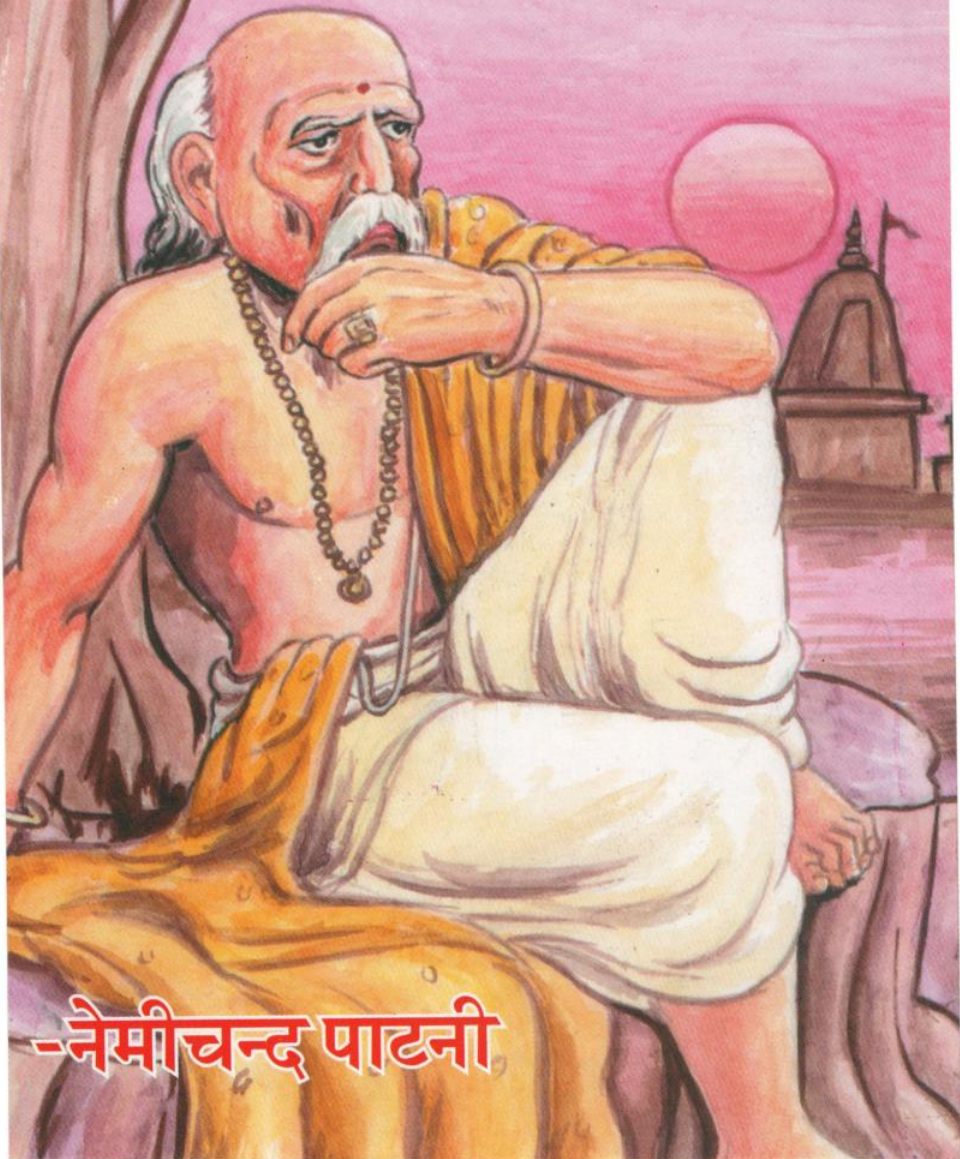


सुख कहाँ ?



-नेमीचन्द्र पाटनी



सुख कहाँ ?

प्रकाशक

सुख का अर्थ है आनंद, सुख का अर्थ है सुख।
सुख का अर्थ है सुख। सुख का अर्थ है सुख।
सुख का अर्थ है सुख। सुख का अर्थ है सुख।

लेखक

नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : (0141) 2707458, 515458



प्रथम तीन संस्करण : 4 हजार

(5 सितम्बर, 2001)

चतुर्थ संस्करण : 1 हजार

(20 मार्च, 2013 अष्टान्हिका पर्व)

योग : 5 हजार

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के माध्यम से स्व. श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी द्वारा लिखित सुख कहाँ है? नामक यह लघु पुस्तिका का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी के जीवन का अधिकांश समय पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के सत्समागम में व्यतीत हुआ है। स्वामीजी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने अध्यात्म के गूढ़ रहस्य को जानकर अपना आत्महित तो किया ही साथ ही अपने अनुभवों को लिपिबद्ध कर सुखी होने का उपाय 8 भागों में लिखकर पाठकों को नई दिशा प्रदान की है। यही नहीं ब्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति, णमो लोए सव्वसाहूणं, वस्तु स्वातंत्र्य, आत्मसंबोधनम्, निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व, भेदविज्ञान का यथार्थ प्रयोग तथा सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता जैसी अन्य कृतियों का सृजन एवं प्रकाशन कर अनन्त सुखी होने का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके लिए हम आदरणीय पाटनीजी के हृदय से आभारी हैं। इस कृति की कीमत करने हेतु श्री मगनमल नेमीचन्द्र पाटनी हस्ते नगेन्द्रजी पाटनी, आगरा द्वारा 1301/- रुपए प्रदान किये गए हैं, इसके लिए ट्रस्ट आपका हृदय से आभारी है।

आप सभी इस कृति के माध्यम से अनन्त सुखी हों -
इसी भावना के साथ -

- ब्र. यशपाल जैन
प्रकाशन मंत्री

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक :

श्री प्रिन्टर्स
मालवीयनगर,
जयपुर

सुख कहाँ ?

यह तो सार्वभौमिक सत्य है कि प्राणीमात्र सुख चाहता है। चाहे वह एक इन्द्रिय वनस्पति हो अथवा मनुष्य, तिर्यच, देव कोई भी हो। सब रात्रि-दिवस जो कुछ भी करते हैं, सुख प्राप्त करने के लिए ही करते हैं, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। सोना-जागना, खाना-नहीं खाना, पीना-नहीं पीना, सिनेमा देखना, शराब पीना आदि अच्छे अथवा बुरे-सभी कार्य सुख के लिए ही करते हैं। इसलिए निर्विवाद है कि प्राणीमात्र को सुख चाहिए, कहा भी है :—

“जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतें भयवन्त।”

अतः सुख प्राप्त करने के उपायों के संबंध में विचार विश्लेषण करना आवश्यक है। पहिले सुख की व्याख्या को स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

इच्छाओं की पूर्ति को जगत सुख मानता है

जगत ऐसा मानता है कि जो इच्छा उत्पन्न हो उसकी पूर्ति हो जावे, वह ही सुख है और पूर्ति नहीं होना ही दुःख है। इसलिये जो इच्छाएँ उत्पन्न हों, प्राणी उनकी पूर्ति के साधनों को इकट्ठा करने के लिये निरन्तर प्रयास करता रहता है। जो पूर्ति में बाधक हों उन कारणों को दूर करना चाहता है तथा दूर करने अथवा प्राप्ति के लिए, जीवों का घात करना पड़े, कष्ट पहुँचाना पड़े, अन्याय रूप प्रवृत्ति भी करना पड़े तो भी संकोच नहीं करता। ऐसे जीव को पाँच पाप — हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि हुए बिना रहते नहीं। अर्थात् अपन

प्रयासों को सफल करने के लिये पाँच पापों का उपयोग भी करता है। संक्षेप में विचार करें तो इस शरीर से सम्बन्धित पाँच इन्द्रियों के अनुकूल कारणों को जगत ने सुख का कारण एवं प्रतिकूल कारणों को दुःख का कारण मान रखा है। जैसे :—

१. स्पर्शन :— शरीर को अनुकूल लगने वाले साधनों जैसे— गरमी में ठंडक और सर्दी में गरमी के साधन एवं कामवासना जागृत होने पर उसकी पूर्ति के कारणों को जुटाने का तथा बाधक कारणों को हटाने का प्रयास करता है। पूर्ति के साधन शरीर को पुष्ट रखने के लिये खाद्य-अखाद्य, योग्य-अयोग्य उपायों को अपनाने में भी नहीं चूकता।

२. रसना :— जिह्वा को अच्छे लगने वाले एवं शरीर को पुष्ट करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थ, चाहे वे अनेक जीवों का घात करके तैयार किये जा सकें तो भी सेवन करता है जैसे — मांस आदि से तैयार किया गया भोजन। इसीप्रकार अनेक अभक्ष्य पदार्थों से तथा बहुत से स्थावरों के घात से तैयार किया गया एवं अनिष्टकारक भोजन, जैसे — अजीर्ण में मिष्टान्न आदि। इसीप्रकार नशा उत्पन्न करने वाला एवं अनुपसेव्य — जो लोक में भी निषिद्ध हों, ऐसे पदार्थों के द्वारा भी रसना इन्द्रिय को तृप्त करने की चेष्टा करता है तथा उनकी पूर्ति के प्रयत्नों में निरन्तर रत रहता है। सुख के साधन इन्द्रियों एवं शरीर को मानकर उनको पुष्ट करने के प्रयासों में लगा रहता है।

३. घ्राण :— नाक को अच्छे लगने वाले सुगन्धित पदार्थों को जुटाने का एवं अच्छे नहीं लगने वाले पदार्थों को हटाने के प्रयास में रत रहता है, जैसे — इत्र, सेन्ट, त्वीण पाउडर आदि अनेक वस्तुएँ।

जिनके तैयार करने में कितने ही जीवों का निर्दयता से वध किया गया हो तो भी इसका विचार नहीं करता ।

४. चक्षु :— आँख को सुहावना लगने वाले साधनों जैसे — सिनेमा, टेलीविजन, वी.सी.आर. आदि अनेक साधनों को इकट्ठा करके चक्षुइन्द्रिय को तृप्त करने के प्रयास करता है । प्राप्त करने के लिए आर्थिक क्षमता के अभाव में चोरी, बेईमानी आदि अन्याय करके भी उनको प्राप्त करने के प्रयासों में व्यस्त रहता है ।

५. श्रोत्र-कर्ण :— कानों को अनुकूल लगे ऐसे अच्छे-अच्छे गायन आदि साधनों को जुटाने के प्रयासों में लगा रहता है ।

इसप्रकार शरीर को पाँचों इन्द्रियों के द्वारा सुखी होने का आधार मानकर, यह शरीर मैं हूँ, शरीर ही मेरा जीवन है — ऐसी मान्यता द्वारा, शरीर तथा पाँचों इन्द्रियों को पुष्ट रखने, सजाने, संवारने के प्रयास करता रहता है और उसके कारण निरन्तर आकुलित रहता है ।

आकुलता की तीव्रता क्यों होती है ?

आकुलता की तीव्रता-उग्रता क्यों होती है — यह मान्यता इसका कारण है कि यह शरीर ही मैं हूँ, इसलिये मुझे सुखी होना है तो शरीर की अनुकूलता से ही मैं सुखी होऊँगा । इसके कारण इच्छाएँ उत्पन्न होते रहना स्वाभाविक है । इच्छाएँ उत्पन्न होते ही उसकी पूर्ति के लिए अत्यन्त आकुलित हो उठता है और पूर्ति के प्रयासों के लिए दौड़ने लगता है । जब उन प्रयासों में सफलता प्राप्त नहीं होती है तो अत्यन्त दुःखी होता है और तीव्र आकुलता के साथ और भी तेज दौड़ने लगता है । कदाचित् पुण्य के योग से उन प्रयासों में सफलता प्राप्त हो जाती है तो उनका उपभोग करने के लिए आकुलित

होता है। साथ ही प्रयासों की सफलता देखकर, अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए और भी तीव्रता आकुलता में आ जाती है अर्थात् एक तो प्राप्त सामग्री के भोगने की आकुलता और साथ ही अन्य सामग्री प्राप्त करने की आकुलता; इसप्रकार दौड़-धूप कम होने के स्थान पर तीव्रता से बढ़ जाती है।

सत्य तो यह है कि “शरीर ही मैं हूँ, इस ही से मेरा जीवन है” आदि मान्यताओं के कारण ही, यह प्राणी निरन्तर आकुलित रहता है और आकुलता करते-करते सारा जीवन नष्ट कर देता है, फिर भी सुखी होता हुआ देखा नहीं जाता।

सामग्री के संयोग-वियोग से सुख-दुःख नहीं होता ?

आज का जगत यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि आकुलता दुःख है; वरन् यह मानता है कि बाहर के ठाठ-बाटों की प्रचुरता की कमी और इन्द्रिय के विषयों की सामग्री की कमी ही, दुःख है एवं उनकी पूर्ति ही सुख है। अतः इस संबंध में गवेषणा आवश्यक है।

प्रथम इस पर विचार करना चाहिए कि जिनके पास पाँचों इन्द्रियों की आवश्यकता की पूर्ति के साधन पर्याप्त हों, शरीर भी परिपुष्ट हो तथा सभी बाह्य अनुकूलताएँ भी हों, उन्हें तो पूर्ण सुखी होना चाहिए? लेकिन ऐसा भी देखने में नहीं आता; ऐसे जीव भी आकुलित और दुःखी देखे जाते हैं। पहले तो उन्हें प्राप्त सामग्री को अत्यन्त गृद्धतापूर्वक शीघ्र-शीघ्र भोगने की आकुलता रहती है; भोगने योग्य सामग्री प्राप्त होते हुए भी, उनको एक साथ तो भोग नहीं सकता; वरन् एक समय एक को ही भोग पाता है। फलतः कभी किसी को, कभी किसी को भोगने के लिए झपट्टे मारता हुआ तीव्र आकुलित रहता है और जब

सुख कहाँ ?]

[७

एकसाथ भोगने की सामर्थ्य नहीं होती तो अनेक मादक पदार्थ शराब आदि पीकर भी इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। उसमें भी जब सफल नहीं होता तब इतना विह्वल हो जाता है कि नशा करके अचेत होकर पड़ जाता है। कहा भी है कि —

“आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वामणूपमम् ।

कस्य किं कियदायाति वृथा तो विषयैषिताः ॥

— आत्मानुशासन ३९

अर्थ :— आशारूपी (इच्छारूपी) खाड़ा प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। अनन्तानन्त जीव हैं, उन सबके आशा पायी जाती है तथा वह आशारूपी कूप ऐसा है कि ऐसे एक खाड़े में समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है, तो अब यह कहो कि किसको कितना हिस्से में आये ?”

जिनको पर्याप्त इच्छित सामग्री प्राप्त हो चुकी है, उनको तो भोगने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य आकुलता नहीं होनी चाहिए ? लेकिन ऐसा भी देखने में नहीं आता। क्योंकि प्राप्त सामग्री को भोगने के साथ-साथ, सामग्री को बनाये रखने की एवं भोगने के लिए शरीर व इन्द्रियों को पुष्ट करने की तथा जो उनमें बाधक कारण आ पड़ें, तो उनको हटाने-नष्ट करने की आकुलताएँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं।

सामग्री पर्याप्त होने पर भी उपर्युक्त प्रकार की आकुलताओं के साथ, उनको अनावधि रूप से बढ़ाने की इच्छा, इसको और भी अधिक आकुलित बनाये रखती है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि जगत में ऐसा कोई द्रव्य पराधीन तो है नहीं जो हमारे अनुकूल ही परिणामें, प्रतिकूल नहीं परिणामें। अगर ऐसा मान भी लिया जावे तो, इच्छापूर्ति प्रत्येक व्यक्ति की हो जावे, ऐसा भी संभव नहीं हो सकता। जैसे

लखपति से करोड़पति बनने की, करोड़पति से अरबपति बनने की इच्छा किसको नहीं होती और इच्छा पूर्ति के लिये क्या-क्या अनीति-अन्याय नहीं करता। कोई उसमें बाधा उपस्थित करे तो उसको जान से मारने से भी पीछे नहीं हटता। फिर भी इच्छा के अनुसार होता हुआ नहीं देखा जाता।

आकुलता ही दुःख है

एक द्रष्टान्त पर विचार करें कि लौकिकजन जिसको पूर्ण सुखी कहते हों, और जो स्वयं अपने आपको सुखी मानकर इन्द्रिय विषयों के भोगों में मग्न हो; उस व्यक्ति को ही अगर कोई टेलीग्राम आ जावे कि तेरे को एक करोड़ का घाटा हो गया अथवा तेरे पुत्र का मरण हो गया तो, उस व्यक्ति को आप सुखी मानेंगे या दुःखी? साथ ही वह व्यक्ति भी अपने-आपको सुखी मानेगा या दुःखी? विचार करें कि जिस सामग्री की प्रचुरता को सुख माना था वह तो इस समय भी मौजूद है, फिर वह दुःखी क्यों हुआ? इनसे आप स्वयं ही निष्कर्ष पर पहुँच जावेंगे कि सुख की सामग्री रहते हुए भी, टेलीग्राम मिलने से जो आकुलता उत्पन्न हो गयी, वह आकुलता ही दुःख है। क्योंकि पहले वह आकुलता नहीं थी और जब वह उत्पन्न हो गई तब वह अपने को दुःखी मानने लग गया।

निष्कर्ष यह है कि सामग्री न तो सुख का कारण है और न दुःख का कारण वरन् अन्दर में होने वाली आकुलता ही दुःख है और उस आकुलता की कमी को ही लोग सुख मानने लगते हैं, यथार्थतः तो अंशमात्र भी आकुलता दुःख ही है। अतः जिसको सुखी होना हो उसको आकुलता की उत्पादक इच्छाओं को और इच्छाओं की उत्पादक इस मान्यता को छोड़ना चाहिए कि शरीर

सुख कहाँ ?]

19

ही मैं हूँ और शरीर के जीवन से मेरा जीवन है, इससे ही मुझे सुख मिलेगा। यह मान्यता मिथ्या है।

प्रश्न :— विषयों को भोगने के समय सुख तो लगता है। अतः आप इसको दुःख क्यों कहते हो ?

उत्तर :— जिसप्रकार १०६ डिग्री बुखारवाला व्यक्ति बुखार के समय तीव्र आकुलता अनुभव करता था। उसही को १०० डिग्री हो जाने पर कोई पूछता है तो वह कहता है कि अब तो ठीक हूँ। लेकिन साथ ही यह भी मानता है कि यह भी निकालने योग्य हैं। उसीप्रकार जब इस जीव को इच्छा उत्पन्न होती थी, तो पूर्ति के साधनों को जुटाने की व्यग्रता में आकुल-व्याकुल होता था; लेकिन जब साधन मिल जाते हैं, तो आकुलता की कमी होने से उसको लगने लगता है कि यह ही सुख है। लेकिन वस्तुतः वह सुख नहीं है। क्योंकि एक ही इच्छा हो और उसकी पूर्ति हो जाने पर अन्य इच्छा उत्पन्न न हो तो कदाचित् यह मान भी लिया जावे कि जीव सुखी हो जावेगा; लेकिन एक इच्छा पूर्ति के समय ही अन्य अनेक इच्छाओं की पूर्ति करने सम्बन्धी आकुलता खड़ी रहती है। साथ ही जो सामग्री प्राप्त हुई, उसके भोगने सम्बन्धी आकुलता भी उत्पन्न हो गई और भोगने में भी बारबार भोगने की एवं जल्दी-जल्दी भोगने की और अनेक प्रकार से भोगने की तथा अकेले भोगने की व अपने स्वजनों के साथ भोगने की तथा लोगों में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए दुनिया को दिखाकर भोगने की आदि आदि अनेक प्रकार की आकुलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसप्रकार आकुलता से छुटकारा कभी नहीं मिल पाता। दुःखी होने पर भी, विपरीत मान्यता के कारण, आकुलता में सुख मानकर सारा जीवन बिता देता है। लेकिन जीवन भर के प्रयासों से भी,

इच्छाओं का एवं पूर्ति करने के प्रयासों का कभी अन्त नहीं आता, इसलिये वास्तव में दुःखी ही दुःखी बना रहता है। निष्कर्ष यह है कि आकुलता ही दुःख है; सामग्री की कमी नहीं।

इच्छानुसार सामग्री, प्राप्त क्यों नहीं होती ?

प्रश्न :— प्रत्येक जीव का प्रयास होता है कि उसको इच्छित वस्तु प्राप्त हो जावे। लेकिन उनमें से किसी को सफलता मिलती है और किसी को नहीं। इसका कारण क्या ?

उत्तर :— विचारने योग्य है कि जीव नया तो पैदा कभी होता नहीं ? यहाँ जब पैदा हुआ है तो पहले कहीं था अवश्य, वहाँ से मरकर ही यहाँ पैदा हुआ है और जो यहाँ से मरता है वह अन्य कहीं भी जाकर निश्चित रूप से उत्पन्न होगा यह भी निश्चित है। इसप्रकार यह तो प्रतीति-विश्वास में आता है कि जीव अनादि का है और अनन्त काल तक कहीं भी रहे, रहेगा अवश्य। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र से उसके घर मिलने गया हो और कार्य समाप्त कर रवाना हो गया हो, उसके पश्चात्, उसको खोजने के लिए उसका पुत्र मित्र के घर आवे और उससे पूछे कि मेरे पिताजी कहाँ हैं ? तो उसका मित्र सहज ही जवाब देगा कि वे तो यहाँ से चले गये। ऐसा उत्तर सुनते ही पुत्र समझ गया कि वे इस स्थान पर नहीं हैं, लेकिन अन्य स्थान पर हैं अवश्य। उसको ऐसा भ्रम नहीं होता कि वे विश्व में कहीं भी नहीं होंगे। इसीप्रकार जब किसी जीव का मरण होता है तब सब यही बोलते हैं और मानते हैं कि इस शरीर में से जीव निकल गया; लेकिन ऐसा नहीं मानते कि जीव के अस्तित्व का अभाव हो गया ? इस शरीर से निकल जाने पर भी अन्य कहीं भी उसका अस्तित्व है अवश्य, ऐसा सभी मानते हैं।

अन्य प्रकार से भी विचार करें कि यदि ऐसा मान भी लिया जावे कि मरण के बाद जीव कहीं उत्पन्न नहीं होता और अस्तित्व समाप्त हो जाता है? तो प्रश्न होगा कि जब यह पैदा होगा तब कहाँ से आ जावेगा और कौन-किसको-कैसे-कहाँ से पैदा कर देगा आदि-आदि। जीव की सत्ता को अनादि-अनन्त माननेवालों के लिए ही उपर्युक्त चर्चा उपयोगी है — नास्तिक एवं चार्वाक मान्यताओं के लिये नहीं।

भावों का फल जीव को भोगना अवश्य पड़ेगा

जीव की सत्ता अनादि-अनन्त मानने पर, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीव जो-जो अच्छे अथवा बुरे भाव वर्तमान में करेगा उनका फल भी उसको अवश्य मिलना चाहिए; अन्यथा सदाचार से रहने का एवं दुराचार छोड़ने का उपदेश निरर्थक हो जावेगा तथा समाज दुराचारी को बुरा एवं सदाचारी को अच्छा क्यों कहेगा? सरकार दुराचारी को दण्ड और सदाचारी को पुरस्कृत क्यों करती है? इसका तात्पर्य यह है कि जगत में सब कोई सदाचार को अच्छा और बुरे आचरण को बुरा मानते हैं और कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि अच्छे भाव करने योग्य और बुरे भाव नहीं करने योग्य माने जाते हैं।

इसके अतिरिक्त ऐसे भाव, जो समाज के साथ सरकार की भी जानकारी में नहीं आ सकें, तो क्या ऐसे भाव करने का फल नहीं होना चाहिए? अवश्य होना चाहिए, अन्यथा बुरे भाव करने से कोई क्यों डरेगा? एवं अच्छे भाव करने के लिए प्रोत्साहित कैसे होगा? तात्पर्य यह है कि भावों का फल तो होता ही है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

निष्कर्ष यह है कि जीव जब जैसे-जैसे भाव करता है तब उसही प्रकार के कर्म उसको बंध जाते हैं। फलस्वरूप अच्छे भाव करने के फल में ऐसे कर्म बंधते हैं, जिनके उदय आने पर, जीव जैसी इच्छा करता है वैसी सामग्री इसको प्राप्त होती रहती है और बुरे भाव करते समय जीव ऐसे कर्मों का बंध करता है, जिसके फल में इसको जैसी इच्छा करता है वैसी सामग्री नहीं मिलती, प्रत्युत नहीं चाहता वैसी प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती रहती है। कर्मबंधन की प्रक्रिया इसप्रकार की है कि बंधते समय ही कुछ कर्म इसप्रकार से बंधते हैं कि वे वर्तमान भव में ही उदय में आ जाते हैं और कुछ कर्म इसप्रकार से बंधते हैं कि उनके उदय के समय यह जीव इस भव को छोड़कर दूसरे भव में पहुँच जाता है, तब वे कर्म, उस भव में फल देते हैं। उन कर्मों को हम पुण्य व पापकर्म के नाम से जानते हैं। पुण्य के फल में अनुकूल इच्छाओं की पूर्ति होती है तथा अच्छी नहीं लगने वाली सामग्री सहज ही नहीं आती और आ भी जाती है तो नाश हो जाती है। पापकर्म के उदय के फल में इच्छाओं के अनुसार सामग्री मिलती नहीं और प्रतिकूल स्थितियाँ नहीं चाहते हुए भी आ पड़ती हैं।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान प्रयासों से जीव को सामग्री प्राप्त नहीं होती और प्रयासों से प्रतिकूल परिस्थितियाँ दूर भी नहीं होती; प्रत्युत पूर्व में किये भावों से जो पुण्यकर्म बांध लिया था, उसका उदय आने से, वर्तमान का प्रयास सफल होता है। लेकिन भ्रम से यह वर्तमान के प्रयासों का फल मान लेता है; सफल होने पर अभिमान करता है एवं प्रयासों में उग्रता लाकर और भी तीव्रता के साथ प्रयास करने लगता है; लेकिन मिलता उतना ही है जितना पुण्य का उदय होता है। इसीप्रकार पूर्व में किये बुरे भावों से बांधे गये पापकर्म के उदय के

कारण, प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं; उनको अपने प्रयास के तरीकों की भूल मानकर, नये-नये तरीके जुटाता है और आकुलित होकर दुःखी होता रहता है; फिर भी उनमें परिवर्तन कुछ भी नहीं हो पाता। तात्पर्य यह है कि इसके प्रयासों से संयोग तो बदलते नहीं प्रत्युत आकुलता बढ़ती रहती है। फल यह होता है कि वर्तमान की आकुलता के समय होने वाले पापभावों के फलस्वरूप, फिर नये पापकर्म बांधता है; उनके उदय आने पर तदनुकूल फल प्राप्ति होने से, भविष्य में भी दुःखी होगा। इसीप्रकार आकुलतारूप दुःख का वेदन करता हुआ भ्रमण करता रहता है। इसका कारण एकमात्र इसकी विपरीत मान्यता है कि "मेरे प्रयासों से बाहर की परिस्थितियों को मैं बदल सकता हूँ।"

उपर्युक्त स्थिति समझ लेने पर इतना लाभ तो अवश्य होगा कि प्रयासों की विफलता के समय दीनता धारणकर, तीव्र आकुलित नहीं होगा एवं सफलता के समय कर्तृत्वबुद्धि के मिथ्या अभिमान के द्वारा आकुलित होकर फूला-फूला नहीं फिरेगा। इसप्रकार दोनों प्रकार की आकुलताओं से बच सकता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि सामग्री का मिलना नहीं मिलना वर्तमान प्रयासों का फल नहीं है, वरन् पूर्व उपार्जित पुण्य अथवा पापकर्म का फल है; उसके अनुसार ही सामग्री प्राप्त होती है। इसलिए सामग्री जुटाने अथवा हटाने की इच्छाएँ तो निरर्थक सिद्ध होती हैं।

तात्पर्य यह है कि इच्छायें ही दुःख अर्थात् आकुलताओं की जननी हैं। जिसके आकुलता है वही दुःखी है और जिसके

किंचित भी आकुलता नहीं है वही पूर्ण सुखी अर्थात् भगवान है। अतः हमको भी अगर भगवान बनना है तो इच्छाओं का अभाव करना ही एकमात्र उपाय है और जिस मार्ग से इच्छाएँ उत्पन्न न हों, उस मार्ग को अपनाना की कर्तव्य है। इसी का नाम मोक्षमार्ग है, वही धर्म एवं वीतरागी पंथ है, वही जिनशासन है। आचार्य समंतभद्र ने कहा भी है कि :—

“देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।

संसारदुःखतः सत्वान् यः धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

अर्थ :— मैं समीचीन धर्म को कहूँगा, वह धर्म कर्मों का (राग द्वेषादि का) अभाव करके प्राणिमात्र को संसाररूपी दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख को प्राप्त कराता है।

भावार्थ यह है कि धर्म वही है जिसके धारण करने से आकुलतारूपी दुःख का अभाव होकर निराकुलता रूपी सुख की प्राप्ति हो। अतः सिद्ध है कि निराकुलतारूपी शांति प्राप्त करने के लिए हमको भी ऐसे ही धर्म का स्वरूप समझकर उसको अवश्य अपनाना चाहिए।

अब धर्म का स्वरूप समझने के पहले यह समझना आवश्यक है कि जिस सुख को प्राप्त करना है, वह सुख है कहाँ ?

सुख कहाँ है ?

लौकिकजनों की मान्यता है कि 'सुख तो सामग्री की प्रचुरता में से आता है।' लेकिन यह मान्यता मिथ्या है। जैसे किसी को गुलाब जामुन खाने की इच्छा हुई और वह उसे मिल गयी तो वह मानने लगता है कि सुख गुलाबजामुन में से आया; लेकिन अगर यह मान्यता ठीक है तो, दस गुलाबजामुन के द्वारा दस गुना सुख मिलना चाहिए? लेकिन अनुभव है कि इच्छापूर्ति के पश्चात्, अगर एक गुलाबजामुन

भी जबरदस्ती खिलाया जाये तो खाते हुए भी वह दुःखी होने लगता है । गुलाबजामुन में से सुख आ रहा है तो अधिक से अधिक उसको सेवन करने की चेष्टा होनी चाहिए? दूसरी बात अगर गुलाबजामुन में सुख है तो उसको चीरकर, अन्दर देखना चाहिए कि वह सुख है कहाँ? और उसमें से सुख निकाल लेना चाहिए । इससे स्पष्ट है कि यह मान्यता ही मिथ्या है कि सामग्री में से सुख मिलता है ।

तात्पर्य यह है कि वस्तुओं में सुख होता तो ज्यादा सेवन से ज्यादा सुख मिलना चाहिए था, लेकिन ऐसा तो होता नहीं । स्थिति यह है कि जिस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुयी थी, वह जब तक प्राप्त नहीं होती आकुलित अर्थात् दुखी होता है, और जब किसी भी प्रकार से (वस्तु को प्राप्त करके या बिना प्राप्त करे) इच्छा शांत हो जाती है तो आकुलता घट जाने के कारण, उसको शांति का आभास होता है, और वह उसी को सुख मानने लगता है ।

वास्तविकता तो ऐसी है कि इच्छा का उत्पन्न होना ही दुःख है । इच्छा आत्मा में उत्पन्न होती है और आकुलता का घटना अथवा अभाव भी आत्मा में ही होता है । इससे स्पष्ट होता है कि आकुलता वही है जो इच्छा होने पर आत्मा में उत्पन्न होती है, अनुभव में भी ऐसा ही आता है । इसलिए मिथ्या मान्यता का अभावकर, इच्छाओं का अभाव करने का उपाय ही करने योग्य है । जब गुरु उपदेश अथवा जिनवाणी के माध्यम से अथवा किसी भी प्रकार से, यथार्थ स्थिति समझ में आ जावे, कि 'सुख बाहर की वस्तु से नहीं आता; अतः उनके प्राप्त करने की आकुलता निष्फल है, कर्म का उदय मानकर संतोषवृत्ति धारण करने से ही शांति प्राप्त हो सकती है और यही सुखी होने का उपाय है ।'

आत्मा ऐसा विश्वास जागृत कर, अगर इच्छाओं को उत्पन्न ही नहीं होने देवे तो सुखी हो सकता है। जिसको इच्छा उत्पन्न न हो, वही परम सुखी है, वही परमेश्वर है। तात्पर्य यह है कि आकुलतारूपी दुख भी आत्मा को आत्मा में होता है अतः सुख भी आत्मा का आत्मा में ही होना चाहिए; निष्कर्ष यह है कि आत्मा का सुख अन्य कहीं होता नहीं और अन्य कहीं से आता भी नहीं।

जीव दुःख उत्पन्न ही क्यों करता है ?

प्रश्न :— जब आत्मा सुख स्वभावी है और सुखी रहने का स्वभाव है तो दुःख का उत्पादन ही क्यों करता है ?

उत्तर :— प्रथम यह समझना चाहिए कि दुःख उत्पन्न ही कैसे होता है ? जैसे — लबालब स्वच्छ जल से भरा एक तालाब है, उसमें एक पत्थर का टुकड़ा फेंका जाए तो शांत पड़ा तालाब अशान्त हो जाता है। उसीप्रकार आत्मा तो अनाकुल स्वभावी अर्थात् आकुलता रहित शांत स्वभावी है, उसमें जिससमय इच्छारूपी पत्थर का टुकड़ा फेंका जावे उसीसमय आत्मा में आकुलता की उत्पत्ति हो जाती है। इसप्रकार अनाकुल स्वभावी आत्मा भी दुखी बन जाता है।

आत्मा को ऐसी भूल वास्तव में नहीं करनी चाहिए और उसका हित भी उसी में है। लेकिन इसको अनादि से कभी यह विश्वास उत्पन्न ही नहीं हुआ कि “मैं स्वयं सुखस्वभावी हूँ, कहीं बाहर से मुझे मेरा सुख लाना नहीं पड़ता।” ऐसे विश्वास के द्वारा अगर मैं इच्छा उत्पन्न नहीं होने दूँ तो दुःख का भी उत्पादन नहीं होगा। लेकिन मानता है कि मैं दुखी हूँ, मुझे सुख चाहिए और सुख बाहर के संयोगों में हैं, अतः उनसे प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए अनुकूल संयोग इकट्ठे

करके उनसे सुख प्राप्त करना चाहिए आदि-आदि विश्वास के कारण संयोगों को इकट्ठा करने की एवं बाधक संयोगों को दूर करने की चिन्ता में, दिन-रात लगा रहता है और आकुलित हो-होकर निरन्तर दुःखी बना रहता है। इसप्रकार आत्मा दुःख की उत्पादक जो विपरीत मान्यताएँ हैं, उनको स्वयं ही करता है।

पाँचों पाप और कषायों की उत्पत्ति का कारण

उपर्युक्त मिथ्या श्रद्धा के कारण, लालसा-गृद्धता जितनी तीव्र होती है प्राप्त करने की उग्रता भी उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। फलतः संयोगों की पूर्ति के लिए वह, किसी भी प्रकार से हिंसा करने में, झूठ बोलने में, चोरी करने में, कामवासना की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के अनर्थ करने में एवं संयोगों को इकट्ठा करने एवं बनाये रखने आदि की चिन्ता से, आकुलता कितनी भी तीव्र हो, उसमें जरा भी संकोच नहीं करता। आकुलता को, दुःख नहीं मानता, वरन् कर्तव्य मानकर, अत्यन्त गृद्धता के साथ उसमें चौबीस घण्टे घानी के बैल की तरह जुता रहता है - दौड़ लगाता रहता है। बाधक कारणों को हटाने के लिए, क्रोध उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। सामग्री थोड़ी सी प्राप्त होते ही मानकषाय के द्वारा, अपने-आपको ऊँचा दिखाने की एवं दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। इसीप्रकार इच्छित सामग्री प्राप्त करने के लिए मायाचारी करके भी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयासरत रहता है। प्राप्त सामग्री को बनाये रखने एवं तृष्णा की उग्रता होने से अधिक बढ़ाने की इच्छा के कारण लोभकषाय हुए बिना भी नहीं रहती।

इसप्रकार उपर्युक्त मिथ्याश्रद्धा वाला जीव सभी प्रकार के

पाप एवं कषायें करने में जरा भी संकोच नहीं करता वरन् आकुलता होने पर भी उसमें सुख मानता है।

सारांश यह है कि स्वयं आत्मा दुःख का उत्पादक नहीं है, उसको दुःख नहीं चाहिए; विपरीत मान्यत, ही आकुलतारूपी दुःख की उत्पादक है। मेरा सुख संयोगों में है — ऐसी मान्यता ही इच्छाएँ उत्पन्न कराके, उनके पूर्ति करने संबंधी आकुलताएँ उत्पन्न करती हैं। इसलिये आत्मा दुःख का उत्पादक नहीं है वरन् उपरोक्त मान्यता ही है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा को सुखी होना हो तो उपर्युक्त मान्यता का अभाव करे, जिससे कि दुःख पैदा ही न हो क्योंकि आत्मा तो सुखी ही है। आत्मा को सुख का उत्पादन नहीं करना है वरन् दुःख का उत्पादन रोकना है।

मान्यता को बदलने का उपाय क्या ?

प्रश्न तो छोटा है, लेकिन समाधान के लिए विस्तारपूर्वक गवेषणा आवश्यक है। यह जीव अनादि से जिस मिथ्या मान्यता से इच्छाएँ उत्पन्न करके, राग-द्वेषपूर्वक क्रोधादि कषायें, पाँच पाप आदि भाव निरन्तर करता हुआ कर्मबंध करके परिभ्रमण करता रहता है। ऐसी मान्यता को दूर करने के लिए अन्तरंग में तीव्र रुचि होना चाहिए।

संसार परिभ्रमण को दुःखरूप मानकर, उग्र संकल्प करना चाहिए कि मुझे अब एक भी नया भव नहीं करना है एवं सब कुछ बलिदान करना पड़े तो भी मुझे तो यथार्थ मार्ग प्राप्त करना है। और दुःख से भयभीतता के साथ, अतीन्द्रिय सुख की महत्ता भी होना चाहिए। जब तक उग्र पुरुषार्थ के साथ ऐसा विश्वास उत्पन्न नहीं हो और सच्चा

मार्ग प्राप्त करने की तीव्र लगन नहीं लगे तब तक अनादिकालीन गिथ्या मान्यता का अभाव होकर यथार्थ मार्ग प्राप्त करना असंभव है ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा भी है कि :—

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।

भवे खेद प्राणीदया, वहाँ आत्मार्थ निवास ॥

और भी कहा है कि :—

काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन-रोग ।

सारांश यह है कि उपर्युक्त प्रकार का मार्ग — संसार परिभ्रमण से छूटने का उपाय अर्थात् धर्म, वही जीव प्राप्त कर सकता है जिसके अन्तर में, ऊपर कहे अनुसार लगन लगी हो; और धर्म, प्राप्त करने का पात्र-अधिकारी भी वही हो सकता है ।

अतः उपरोक्त पात्रता प्रगट करके समर्पणता एवं उग्र पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा के धर्म के स्वरूप को समझना चाहिए । यही मनुष्य जीवन की सार्थकता है ।

इसप्रकार सुख के अर्थी सभी जीव, आत्मा का सुख आत्मा में है और आत्मा में से ही प्राप्त होगा; ऐसे विश्वास के द्वारा, सुख प्राप्त करने का उपाय समझकर-श्रद्धाकर-आचरण कर सुखी हों; इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ । यही “सुखी होने का उपाय” है ।

लेखक के महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. सुखी होने के उपाय भाग 1 से 8
2. व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ
3. शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
4. णमो लोए सव्व साहूणं
5. वस्तु स्वातंत्र्य
6. आत्म सम्बोधनम्
7. निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
8. सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता
9. सुख कहाँ है?
10. अपनत्व का विषय
11. भेद विज्ञान का यथार्थ प्रयोग

मुनिराज को बारम्बार सातवाँ गुणस्थान आता है। सातवें के काल की अपेक्षा छठवें गुणस्थान का काल ज्यादा है; तथापि झुकाव तो शुद्ध उपयोग की तरफ ही है। कदाचित् मंदराग वर्तता है अर्थात् जब वे अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रह पाते, तब शुभराग आता है। सर्वथा शुद्ध उपयोग नहीं हुआ है, शुभ उपयोग भी आता है। देखो ! यहाँ शुभभाव करते हैं – ऐसा नहीं कहा। मुनिराज शुभ के कर्ता नहीं होते, शुभभाव के काल में शुभभाव आते हैं; परन्तु उन पर वजन नहीं है – इसकारण कदाचित् कहा है। शुभभाव द्वारा शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में अनुराग करते हैं। यद्यपि उनका लक्ष्य देव-शास्त्र-गुरु की तरफ जाता है, परन्तु वे उस भक्ति के राग को, पंचमहाव्रतादि के परिणाम आदि शुभभाव को हेय समझते हैं; उस राग को छोड़ने योग्य समझकर दूर करना चाहते हैं। जिसे वे दूर करना चाहते हैं, उस शुभराग से कभी लाभ हो – ऐसा कभी नहीं बनता। वे तो उसे कमजोरी मानते हैं।

मो.मा.प्रवचन, पृष्ठ - 21